27_rakesh+++_Layout 1 12/27/2013 7:00 PM Page 809

जनपद, संस्कृति और निरंतरता

राकेश पाण्डेय

ईश्वर क्या है / और क्या है कोई पत्थर
दोनों को बाँटने वाली रेखा
यदि कोई है/ तो होगी बहुत पतली
जेजुरी में / यहाँ हर दूसरा पत्थर /
या तो कोई देवता है या उसका सगा-संबंधी

कोई फसल नहीं यहाँ/ ईश्वर के अलावा
ईश्वर की ही खेती होती है यहाँ
पूरे साल /हर घड़ी-पल
बंजर धरती / और हठीले पत्थरों में
वह विशाल चट्टान का टुकड़ा
किसी शयन कक्ष-सा-बड़ा
पत्थर बनी खण्डोबा की पत्नी है
दरार जो खिंची दिखती उस पर
तलवार का घाव है
चलाया जब खण्डोबा ने उस पर
एक बार क्रोध के आवेग में

किसी पत्थर को खरोंचो
और एक गाथा फूट पड़ती है

— **अरुण कोलटकर**
(‘जेजुरी’ संग्रह से)

आधुनिक सांस्कृतिक और सामाजिक चिंतन में विश्लेषण की मूल इकाई की खोज स्वयं में एक पेचीदा विषय रही है। सांस्कृतिक सोच में राष्ट्र, राज्य और जनपद या गाँव और नगर जैसे पद कई बार जैव रूपकों और उनसे जुड़ी निरंतरता के माध्यम से समझे जाते रहे हैं। संस्कृति और समाज को ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों की दृष्टि से समझने में यह प्रश्न बना रहता है कि सातत्य को आख़िरकार विभिन्न भौतिक और अभौतिक अभिव्यक्तियों में किस क़दर देखा जाए। अक्सर सातत्य सिर्फ़ भौतिक उपादानों और अवशेषों का ही नहीं होता बल्कि उन्हें पिरोने वाले अर्थमय संसार का भी होता है। यह अर्थमयता कई रूपों में भाषा, रोज़ाना के आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज़ों, कर्मकाण्डों और प्रतीकों में व्यक्त होती है। सच तो यह है कि सांस्कृतिक रूपों और आचारों को व्यवस्थित रूप से पढ़े और समझे जाने की दरकार होती है और उस अर्थवत्ता की तलाश में भाषा और प्रतीक हमारी कुँजी होते हैं।

कई बार निरंतरता संस्कृति का स्वप्न होती है— हमारे अपने व्यक्तिगत या सामूहिक छलावे की तरह और कई बार वह सचमुच ही सांस्कृतिक अवशेषों, जीवनाचारों और प्रतीकों में संजोयी और बहती हुई दिखती है। यों निरंतरता को परम्परा से अभिन्न मान लिया जाता है लेकिन यह बोध होते ही कि निरंतरता काल से अनन्य रूप से जुड़ी

27_rakesh+++_Layout 1 12/27/2013 7:00 PM Page 810

अवधारणा है, हम परम्परा और ऐतिहासिकता से जुड़े काल बोध के भेद से उसे बेहतर ढंग से समझ पाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि में काल को मुख्य रूप से एकरेखीय अर्थात् किसी बिंदु से उद्भूत और किसी अन्य बिंदु तक पहुँचता माना जाता है, जिसके दायरे में काल की अन्य गतियाँ भी छिपी हो सकती हैं। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि परम्परा की समझ काल की इस ऐतिहासिक और रैखिक अवधारणा से ही बँधी हो। परम्परा की अवधारणा के केंद्र में दाय या हस्तांतरण का विचार होता है, काल उसका केंद्रीय तत्त्व नहीं होता। हालाँकि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने में काल की अवधारणा महत्त्वपूर्ण हो जाती है। फिर हम किसी संस्कृति से जुड़ी काल की विभिन्न गतियों को कैसे समझें— इतिहास या परम्परा की दृष्टि से!

आधुनिकता के संदर्भ में यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। स्वयं आधुनिकता की समझ मोटे तौर पर ऐतिहासिक दृष्टि और उससे जुड़ी काल की अवधारणा से नत्थी रही है। इस लेखे परम्परा आधुनिकता का प्रतिपर्ण है और बाज दफ़ा दोनों एक दूसरे में गुँथे हुए भी दिखते हैं। कई बार परम्परा निरंतरता की ओर ध्यान खींचती है, तो ऐतिहासिकता निरंतरताओं के तोड़ की ओर। भारत जैसे बहुस्तरीय और बहुभाषिक समाज में सांस्कृतिक चिंतन एक और विचार से बँधा रहा है जो परम्परा और आधुनिकता के बीच की आवाजाही की ज़मीन रहा है— वह है राष्ट्रीयता, जिसमें आधुनिक काल और निरंतरता की अधिकांश प्रक्रियाएँ और मुहावरे घुले-मिले दिखने लगते हैं।

भारत जैसे बहुस्तरीय और बहुभाषिक समाज में सांस्कृतिक चिंतन एक और विचार से बँधा रहा है, जो परम्परा और आधुनिकता के बीच की आवाजाही की ज़मीन रहा है— वह है राष्ट्रीयता, जिसमें आधुनिक काल और निरंतरता की अधिकांश प्रक्रियाएँ और मुहावरे घुले-मिले दिखने लगते हैं।

एक उद्यमी और खोजी विचारक शायद हर बार इन प्रत्ययों की उधेड़बुन में फँसा महसूस कर हमें लोगों के बीच ले जाकर उनके जीवन की लय, ठहराव और आपाधापी से रूबरू कराता है। विश्व की तमाम संस्कृतियों में बौद्धिक और रचनाकार अपने-अपने रूप में अपनी एकांत कोठरी और साधक अपनी कंदरा से बाहर जाने की बात करते रहे हैं। यह इस तथ्य की प्रतीति है कि हमारे वैचारिक प्रयत्न की उलझनों और मंथर संसार के बाहर एक गतिमान विश्व भी होता है। हमारी भारतीय परम्परा में बार-बार एक अनबूझ पहेली की तरह लोक शब्द उदित होता है। गहरे वैचारिक पसोपेश में यह शब्द विराम की तरह आता है, सारे प्रश्नों को एक बारगी सुलझाता हुआ। लोक वस्तुतः स्वयं में उस बाहर के गतिमान विश्व का और स्वयं गति का ही पर्याय है। लोक की गति कई रूपों में बनी रहती है और वह वैसे भी सहज ग्राह्य नहीं होती— कम-से-कम उसके भीतर की क्रियाएँ तो हरगिज़ नहीं। उसे एक मँजी हुई दृष्टि और साफ़-सुथरी सूझ की ज़रूरत होती है। यह देखना जुड़ना है लोक की असंख्य गतियों के साथ, अन्यथा वह शोर और व्यतिक्रम ही जान पड़ेगा।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और जनपदीयता

जाने-माने सांस्कृतिक इतिहासकार, भाषाविद् और भारतीय कला के विद्वान वासुदेव शरण अग्रवाल लोक और उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए 'जनपदीय अध्ययन की आँख' विकसित करने की बात करते हैं। लोक का यह ज्ञान शास्त्र की सूक्ष्मताओं से छन कर एक दृष्टि का निर्माण करता है। यह दृष्टि रूखी या बेलाग नहीं रह सकती, सूखा ज्ञान भले रह जाए। अग्रवाल के लेख के संदर्भ में यह बात ग़ौरतलब है, जो कि वैदिक प्रतीक, पाणिनी-कालीन सांस्कृतिक

27_rakesh+++_Layout 1 12/27/2013 7:00 PM Page 811

इतिहास और मध्यकालीन भाषा ग्रंथों की व्याख्या से लेकर आधुनिक संग्रहलायों की सूचियाँ तैयार करने जैसे पुराने और नये ज्ञान में सिद्धहस्त थे। वे हिंदी के अद्वितीय और लगभग भुला दिये गये विद्वान निबंधकारों में से हैं। साहित्य के हलक़े में इस वैचारिकता में पगे गद्य की स्मृति अब क्षीण हो चली है। उसके साधक और पैरोकार भी कम बचे दिखते हैं। भाषाओं में हो रहे विचार में वे एक नमन-योग्य परम्परा की विभूति मात्र मान लिए गये हैं। हालाँकि आज भी इतिहास और कला के विद्वानों के बीच उनकी उपस्थिति बनी हुई है। हमारे व्यापक सांस्कृतिक परिदृश्य के लिए यह विस्मृति जोखिम से भरी है क्योंकि वासुदेव शरण अग्रवाल के चिंतन में न सिर्फ़ शास्त्र के शब्द फिर से जी उठते हैं बल्कि भाषाओं की शब्द-संपदा भी विचारशील गद्य का आधार बन जाती है। गद्य की इस परम्परा में जहाँ एक ओर शास्त्रीयता से प्रत्ययों का अनुशासन सधता है तो वहीं दूसरी ओर भाषा सचमुच बहता नीर है । यहाँ प्रस्तुत उनका यह लेख हिंदी में रचे गये उस गद्य का स्मरण भी है।

जानपद लोक के रहस्य और अर्थ उसके शब्दों के माध्यम से ही हमारे सामने खुलते हैं और शब्द सुनने की माँग करते हैं, कानों पर पड़ते उनके चाप से ही पूरा संसार परिचित हो उठता है। यह सुनना ही उस 'श्रद्धा की आँख' का खुलना है जिसे अग्रवाल 'जानपद जीवन के अनंत पहलुओं की लीलाभूमि' कहते हैं।

जहाँ एक ओर वासुदेव शरण अग्रवाल के लिए जनपद मानव-इतिहास में निरंतरता का वाहक है, वहीं दूसरी तरफ़ नगरों के वैभव और उत्थान-पथन के क्रम के बरक्स संस्कृति की अजस्र प्राणधारा भी। जनपदीय संस्कृति के अपने उतार-चढ़ाव रहे हैं जो एक हद तक उसके मुख्यधारा में उभर आने या ओझल हो जाने से जुड़े होते हैं। अग्रवाल जनपदीय संस्कृति को आधुनिकता की धारा— जो शहरों और आधुनिक उद्योगों पर आधारित है— के सामने इस सांस्कृतिक विरासत के बिल्कुल ही उपेक्षित पड़ जाने की चिंता दर्शाते हैं। औपनिवेशिक सत्ता से आज़ादी और राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान गाँधी के चिंतन और कर्म में गाँवों और सामान्य-जन की पुनर्कल्पना की भी छाया उनके इस जनपदीय सोच में दिखती है। हमारे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से उपजी दृष्टि उनके इस लेख के केंद्र में है। लेकिन इस दृष्टि से एकबारगी बिदकने के बजाय थोड़ा ग़ौर करने पर हम उनके इस लेख में जनपदीय संस्कृति के अध्ययन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूत्र भी पा सकते हैं। उनका यह लेख जहाँ एक तरफ़ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के भीतर बहते किसी मूल भावधारा के विचार से अनुप्राणित है, वहीं दूसरी तरफ़ सांस्कृतिक इतिहासकार के कौशल का भी उदाहरण है।

यह लेख इस बात का साक्ष्य है कि जन-इतिहास और लोक-साहित्य की लम्बी परम्पराओं का अवगाहन कैसे अपने समय को नयी रोशनी में देखने की शक्ति देता है। अग्रवाल धूल-मिट्टी से पटे जनपदीय जीवन— जो किसानों, शिल्पियों और स्त्रियों के श्रम पर टिका रहता है— के अर्थ खोलते हैं और उसे एक अनन्य दस्तावेज़ भी मानते हैं। साक्ष्य या दस्तावेज़ की शास्त्रीय अवधारणा उनके लिए अनजानी नहीं थी। किंतु उनका इस बात पर भी ज़ोर था कि मनुष्य और उसकी संस्कृति के अध्ययन के लिए साक्ष्यों के विश्लेषण से आगे जाकर उसमें बसे मर्म और अर्थ से जुड़ने की दृष्टि चाहिए। उनके लिए यह भी स्पष्ट है कि इस दीठ को किसी अलौकिक प्रज्ञा की ज़रूरत नहीं, वरन वह अध्ययन के अनुशासन से ही उपजती है। ज्ञान या विश्लेषण के कर्म में देखने और आँख के इस रूपक में एक विनम्र झिड़क है और हमारे चारों ओर फैले जनपदों के जीवन की ओर लौटने का संदेश भी।

अग्रवाल अपने लेख में उस विशिष्ट प्रविधि को भी हमारे सामने रखते हैं जो इस

27_rakesh+++_Layout 1 12/27/2013 7:00 PM Page 812

देखने को सम्भव कर सकती है। जानपद लोक के रहस्य और अर्थ उसके शब्दों के माध्यम से ही हमारे सामने खुलते हैं और शब्द सुनने की माँग करते हैं, कानों पर पड़ते उनके चाप से ही पूरा संसार परिचित हो उठता है। यह सुनना ही उस 'श्रद्धा की आँख' का खुलना है जिसे अग्रवाल 'जानपद जीवन के अनंत पहलुओं की लीलाभूमि' कहते हैं। वे जानपद जीवन को शब्दों के लोक के रूप में खड़ा पाते हैं— शब्द ही छोटे-छोटे गवाक्ष हैं जिनसे उस संसार के क्रिया-कलाप और उनका लम्बा कालक्रम और परिवर्तन झलक उठता है। वे स्वयं कई ऐसे शब्दों, जो वैदिक ऋचाओं से लेकर आज की बोलियों में छिपे पड़े हैं, को किसी पुरातत्ववेत्ता की तरह उसकी धूल हटा कर परखते हैं। 'इस ग्रामवासिनी गर्वीली जनता का दर्शन, सिखावन और परिपृच्छा (पूछताछ) जनपदीय अध्ययन का निचोड़ है'— जैसे वाक्य अग्रवाल की ख़ास गद्य शैली का भी नमूना हैं, जहाँ सहज ही हमारा ध्यान खिंच जाता है 'सिखावन' जैसे देशज शब्द की ओर जो 'दर्शन' और 'परिपृच्छा' जैसे तत्सम पदों के बीच बिठाया गया है।

जनपदीयता स्वयं एक दृष्टि है और जनपदीय अध्ययन उस का मार्ग। उनके लिए गेहूँ की बालियों को देखना जनपदीय आँख का खुलना है। पौधों का जीवन-क्रम देशज शब्द परम्परा में स्मृति स्वरूप है, और इस स्मृति को संजोना तीर्थयात्री होने जैसा। जनपदीय जीवन भाषा में अपने स्मृति चिह्न छोड़ता जाता है।

अग्रवाल आधुनिक भारत में, ख़ासतौर से भारतीय भाषाओं में सोचने और लिखने वाले उन दुर्लभ विद्वानों में थे जिनके लिए जनपदीयता स्वयं एक दृष्टि है और जनपदीय अध्ययन उस का मार्ग। उनके लिए गेहूँ की बालियों को देखना जनपदीय आँख का खुलना है। पौधों का जीवन-क्रम देशज शब्द परम्परा में स्मृति स्वरूप है, और इस स्मृति को संजोना तीर्थयात्री होने जैसा। जनपदीय जीवन भाषा में अपने स्मृति चिह्न छोड़ता जाता है। कुम्हार के चाक और कारीगरी के इर्द-गिर्द सैकड़ों शब्द भी गढ़े जा रहे होते हैं। इसलिए अग्रवाल भाषा और जनपद में एक तरह की अभिन्नता देखते हैं जो भूमि, जन और संस्कृति के घेरे में आकार लेती है। ऋतुओं, हवा, बादल, पशु-पक्षी और वनस्पतियों का संसार अपनी-अपनी भाषाएँ भी रचता है, सबके अपने-अपने शब्दों के संसार हैं जो जनपदीय जीवन में रचे बसे होते हैं। देखने का रूपक अग्रवाल के लेख में धीरे-धीरे प्रशंसा और निवेदन के भाव से उठ कर सौंदर्य का सर्जक बन जाता है। उनकी दृष्टि में देखना अर्थ की सम्भावना का ही अनुष्ठान है और जनपदीय जीवन से बड़ी इसकी कोई भूमि नहीं।

इस देखे जाने को रसमयता और सौंदर्यानुभव के करीब लाकर अग्रवाल उस प्रक्रिया को नहीं भूलते जो संस्कृतियों के निर्माण और टकराव से जुड़ी है। उनके अनुसार सहिष्णुता और समन्वय के आदर्शों के सहारे अलग-अलग संस्कृतियों में 'अनमिल और अनगढ़ विचार' टकराकर एक हो जाते हैं। यह एका सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के समन्वयकारी और मुख्यधारा के स्वप्न से बँधा है। जिस हद तक अग्रवाल इस सांस्कृतिक प्रक्रिया को हिंदूकरण पद्धति मानते हैं वे जानपद जीवन की विविधता और प्राणवत्ता को राष्ट्रीय संस्कृति की मुख्यधारा के स्वप्न से अलग नहीं रख पाते। सांस्कृतिक सिद्धांत और राष्ट्रीय कल्पना को एक धरातल पर लाने में जनपदीय जीवन अंततः एक वृहत् राष्ट्रीय आख्यान की कच्ची सामग्री भी रहा है। हमें अग्रवाल की राष्ट्रीयता और जनपदीयता की सांस्कृतिक एकता के सूत्र थोड़ी गहराई से समझने चाहिएँ। उसके सूत्र जनपद और राष्ट्र की विशिष्ट सांस्कृतिक कल्पनाओं से जुड़े हैं। इस दृष्टि में जनपद को राष्ट्र से विशिष्ट होना

27_rakesh+++_Layout 1 12/27/2013 7:00 PM Page 813

है और राष्ट्र जनपदों के सांस्कृतिक समन्वय का निचोड़ है। इसलिए जानपद संस्कृतियाँ कई बार राष्ट्र के सांस्कृतिक समन्वय के आदर्श के सामने अपने को काट-छाँट भी लेती हैं। यहाँ जनपदीयता राष्ट्रीयता के दर्पण में अपने को बार-बार सँवारती है। अग्रवाल यों थोथे राष्ट्रवादी नहीं, न ही अंध राष्ट्रवादी हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की समन्वयकारी धारा के पैरोकार के रूप में वे जनपद और राष्ट्र के इस रिश्ते की स्थापना रखते हैं। उनके लिए राष्ट्र आधुनिक संस्कृति में एक समन्वयकारी और पूर्वापर ढाँचा बनाता है जो भाषा में तत्सम और अपभ्रंश या देशी के बीच दिखता है। एक क्षण के लिए राष्ट्र और जनपद के प्रत्ययों को हम शास्त्र और लोक में बदल कर देखते हैं तो अग्रवाल का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और बेहतर समझ में आता है। फिर राष्ट्र शास्त्र की समन्वयकारी भूमिका का सांस्कृतिक रूपक जान पड़ता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की यह एक उदार ज़मीन है, जिसका पाट जैसे ही सँकरा होता है वह विविधता और लघुता की वेदी बनता जाता है। लेकिन निरे सांस्कृतिक सिद्धांत और प्रक्रिया के स्तर पर लोक और शास्त्र के बीच अग्रवाल अन्योन्याश्रयी संबंध भी दर्शाते हैं। जैसे शास्त्र से शब्द लोक की तरफ़ उतरते हैं और लोक से कुछ शब्द शास्त्र की सीढ़ियाँ चढ़ते हैं और इस प्रक्रिया के बीच ही शास्त्र और लोक के सांस्कृतिक रूपों और भाषाओं का आपस में और अन्य संस्कृतियों से भी टकराव और लेन-देन चलता रहता है। अग्रवाल के लिए जनपदीय जीवन के अध्ययन की दृष्टि इस द्वंद्व और समन्वय की प्रक्रिया के बोध से ही उपज सकती है।

एक क्षण के लिए राष्ट्र और जनपद के प्रत्ययों को हम शास्त्र और लोक में बदल कर देखते हैं तो अग्रवाल का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और बेहतर समझ में आता है। फिर राष्ट्र शास्त्र की समन्वयकारी भूमिका का सांस्कृतिक रूपक जान पड़ता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की यह एक उदार ज़मीन है, जिसका पाट जैसे ही सँकरा होता है वह विविधता और लघुता की वेदी बनता जाता है।

प्राक्-इतिहास की समकालीनता

जहाँ एक ओर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से प्रभावित चिंतन में भारतीय जीवन और उसका अतीत समन्वय के आदर्श पर टिका रहा है वहीं सीधे-सीधे ऐतिहासिक और सामाजिक प्रक्रिया को महत्त्व देने वाली दृष्टि में निहित द्वंद्व की मुख्य भूमिका रही है। लोक-जीवन और सांस्कृतिक प्रक्रिया के इतिहास की व्याख्या दामोदर धर्मानंद कोसाम्बी अपने लेख 'भारत में प्राक्-इतिहास की निरंतरता' में प्रस्तुत करते हैं। वे इस द्वंद्व के भारतीय प्राक्-इतिहास से चले आये तत्त्वों को समकालीन जीवन में भी पाते हैं। ये तत्त्व परम्परा के उच्छिष्ट न होकर विभिन्न जन-समूहों की जीवन-यात्रा के निर्धारक तत्त्व रहे हैं। भाषा, व्यवहार और प्रतीकों की यह निरंतरता कोसाम्बी की इतिहास-दृष्टि को प्रखर बनाती है जहाँ द्वंद्व और समन्वय की जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया को आज के राष्ट्रीय समन्वय के आदर्श में सीधे घुलता देखकर हम अपनी संस्कृति की आत्म-श्लाघा में नहीं डूब जाते।

कोसाम्बी इतिहासकार द्वारा आदिवासी और कृषक समूहों के जीवन के कार्यकलापों, धार्मिक अनुष्ठानों और भौतिक पक्षों में छिपे अलिखित दस्तावेज़ों को परखने की माँग करते हैं। उनके अनुसार आदिवासी समूहों के जीवन में दिखने वाली निरंतरता में भारतीय सामाजिक चिंतन की भी कुँजी छिपी पड़ी है। जैसे कि विभिन्न समूहों में भोजन-संग्रह पर टिकी जीवन-यापन की शैली में अहिंसा के विचार की जड़ें खोजी जा सकती हैं, जिनका पल्लवन बौद्ध और जैन जैसी श्रमण परम्पराओं में हुआ। हल के प्रयोग से विकसित हुआ कृषक जीवन जब विंध्य के पार दक्कन के पठारों की ओर बढ़ा तो पशुपालकों के संग्रह और

27_rakesh+++_Layout 1 12/27/2013 7:00 PM Page 814

कृषकों के उत्पादन पर आधारित जीवन शैली के साथ-साथ एक तरह की नयी सांस्कृतिक प्रक्रिया भी शुरू हुई। कोसाम्बी के अनुसार हमारे प्राक्-इतिहास में शुरू हुए इस मेल-जोल में भारतीय समाज को समझने के सूत्र छिपे हैं, जिनको हम अपने आसपास किसी भी समूह के जीवन में देख सकते हैं।

कोसाम्बी पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र और दक्कन के कुछ आदिवासी और कृषक समूहों के बारीक अध्ययन में उस प्रारम्भिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया के जीते जागते चिह्न देखते हैं। वे भारतीय जन और जनपदीय संस्कृति में ऐसे ऐतिहासिक विकास की गहराई और निरंतरता दिखाते हैं जिसकी बात वासुदेव शरण अग्रवाल ने भारतीय समाज को इसकी सच्ची अर्थवत्ता में समझने और उजागर करने के लिए जनपदीय दृष्टि के विकास के सहारे की है। कोसाम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया की जटिलता के चिह्न उस बड़े परिवर्तन में देखते हैं जब आदिवासी और खेतिहर समुदायों का घुलना-मिलना शुरू हुआ था। वे इसमें भारतीय अतीत की मूल बनावट और ताने-बाने को भी देखते हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल निरंतरता का दर्शन जनपदीय जीवन की कई तहों में छिपी अक्षुण्ण लय के रूप में करते हैं। जीवन में भौतिक और सामाजिक पक्षों से ज़्यादा वे सांस्कृतिक और तात्त्विक पक्ष पर ज़ोर देते हैं। दूसरी तरफ़ कोसाम्बी सांस्कृतिक प्रक्रिया में जीवन के भौतिक और सामाजिक आधारों की ऐतिहासिक व्याख्या को महत्त्व देते हैं।

धार्मिक अनुष्ठानों के हवाले से कोसाम्बी हमारी सामान्य समझ के विपरीत आदिवासी और खेतिहर समुदायों के बीच प्राक्-इतिहास से शुरू लेन-देन की लम्बी प्रक्रिया का विश्लेषण करते हैं। धार्मिक रीति-रिवाज़, कर्मकाण्ड और अनुष्ठान अपने में जीवन के विविध और बदलते रूपों के दस्तावेज़ भी हैं। कम से कम कोसाम्बी अपने लेख में इन्हें अंधविश्वास कहकर ख़ारिज करने या मनोविश्लेषण की आधुनिक पदावलियों से समझने से बचने की बात करते हैं। कर्मकाण्ड जीवन और विश्व का संयोजन होते हैं और उनमें संस्कृतियों की रचना और निरंतरता के तत्त्व गुँथे रहते हैं। दक्कन के पारधी समुदाय के लोगों का धर्म विभिन्न परम्पराओं के मिश्रण का एक उदाहरण है, जहाँ हिंदुओं की देवी-पूजा और उनकी अपनी प्रजनन-नृत्य की प्रथा घुलमिल गयी है। इन समूहों के अध्ययन से यह समझते देर नहीं लगती कि अग्नि-परीक्षा जैसी अत्यंत परिचित विधि किसी पुरानी प्रचलित लोक-परम्परा से चली आयी होगी। कई पशुपालक समूह, जैसे दक्कन के धनगर, खेतिहर और घुमंतू दोनों क़िस्मों की जीवन शैली अपनाये हुए हैं और पत्थर के बने हुए प्रागैतिहासिक औज़ारों का प्रयोग करते हैं। कोसाम्बी यह मानते हैं कि महाराष्ट्र में पंढरपुर जैसे तीर्थ निश्चय ही घुमंतू जीवन के बीच ही बने होंगे। और बागड़ की प्रथा, जिसमें व्यक्ति के पीठ के निचले हिस्से में हुक गड़े होते हैं, क्रूरतापूर्ण होने के साथ ही उस समुदाय में सम्मान का कर्म भी है। कोसाम्बी इन सारे उदाहरणों के माध्यम से सांस्कृतिक प्रक्रिया को इतिहास और वर्तमान तथा शुद्ध और मिश्र के भेद से बाहर ले आते हैं।

कर्मकाण्ड इस प्रकार अविश्वास नहीं रह जाते बल्कि कालक्रम में विकसित हुए जीवन के रूपों का एक तरह के संश्लेष होते हैं। प्राक्-इतिहास के तत्त्वों को समझना सिर्फ़ क्रमिक इतिहास को ही नहीं बल्कि परम्परा को भी जानना है। बीता समय कई बार कर्मकाण्डों के भीतर अपनी निरंतरता बनाये रखता है और कई बार वह काल के अपने साँचे से छिटक कर किसी अन्य से भी जुड़ जाता है।

कोसाम्बी कर्मकाण्डों और धार्मिक प्रथाओं में परम्परा-निर्माण की प्रक्रिया से एक जटिल संबंध तलाशते हैं जो प्राक्-इतिहास के तत्त्वों को वर्तमान में भी गतिशील देखता है। वे प्रथाओं की

27_rakesh+++_Layout 1 12/27/2013 7:00 PM Page 815

अतार्किकता से आँखें मूँदने के बजाय उसके भीतर परम्पराओं के प्राक्-इतिहास की परतें देखते हैं। कर्मकाण्ड इस प्रकार अविश्वास नहीं रह जाते बल्कि कालक्रम में विकसित हुए जीवन के रूपों का एक तरह के संश्लेष होते हैं। प्राक्-इतिहास के तत्त्वों को समझना सिर्फ़ क्रमिक इतिहास को ही नहीं बल्कि परम्परा को भी जानना है। बीता समय कई बार कर्मकाण्डों के भीतर अपनी निरंतरता बनाये रखता है और कई बार वह काल के अपने साँचे से छिटक कर किसी अन्य से भी जुड़ जाता है। एक प्राक्-इतिहासकार को काल की इन पट्टियों को पहचानना पड़ता है। मातृ-देवी और पितृ-देव के चित्र हड़प्पा काल से ले कर हाल के बाज़ार के चित्रों में दिखते हैं और उनमें निहित द्वंद्व भी उजागर करते हैं। किंतु कोसाम्बी यह चेतावनी देते हैं कि निरंतरता के सार्वभौम या आदिम-स्वप्न को धार्मिक प्रथाएँ सबसे पहले तोड़ती हैं। हर आदिम प्रतीत होने वाली प्रथा प्रागैतिहासिक नहीं होती और प्रागैतिहासिक प्रथाएँ किसी सार्वभौम रूप से जुड़ी नहीं होतीं।

कोसाम्बी की इतिहास-दृष्टि में भाषा से लेकर साधारण कामकाज के औज़ारों के प्रयोग में प्राक्-इतिहास से चली आयी निरंतरता दिखती है। वे सामाजिक प्रक्रिया में निहित रक्षण का तत्त्व सामने लाते हैं तो आधुनिक समय की निर्मितियों से उसका टकराव भी दिखलाते हैं। वे टकराव को एक ज़रूरी तत्त्व मानते हैं लेकिन उसे सांस्कृतिक समन्वय से सीधे-सीधे नहीं जोड़ते। वे मनुष्य के इतिहास निर्माण में एक तरह की छिपी हुई प्राक्-दृढ़ता की भी बात करते हैं। निरंतरता के तत्त्व कोसाम्बी की दृष्टि में टकराव और द्वंद्व से ही उपजते हैं। इसलिए मनुष्य के अंदर जो रक्षणशील चेतना है वह जड़ नहीं बल्कि समय के अनुसार परिवर्तनकामी भी है। कोसाम्बी की दृष्टि में समन्वय एक अत्यंत जटिल प्रक्रिया है और सांस्कृतिक प्रक्रिया के उत्स मानव जीवन की विविधता में होते हैं। प्राणधारा या सार्वभौम संस्कृति-रूपों की खोज इस विविधता से मेल नहीं खाती। इसलिए कोसाम्बी समन्वय को एक ज़रूरी सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं, सिर्फ़ एक आदर्श मात्र नहीं।

जनपद की अवधारणा कोह्न के अनुसार कहीं जटिल होती है। हर जनपद अपने समान तत्त्वों के अधार पर एक तरह की अस्मिता से जुड़ा होता है, लेकिन इस समानता के भीतर कई तरह के भेद पल रहे होते हैं। एक जनपद के निवासियों में यह ज़रूरी नहीं है कि हर स्तर पर संवाद या आचार-विचार का साझा हो। इसका सबसे अच्छा उदाहरण ऐतिहासिक जनपद हैं, जिनका मुख्य आधार कोई ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति या प्रतीक होते हैं।

औपनिवेशिक आधुनिकता और जनपदीय संस्कृति

जहाँ अग्रवाल और कोसाम्बी भारतीय जनपदीय या आदिवासी जीवन में निरंतरता के प्राचीन तत्त्वों को रेखांकित करते हैं वहीं नृतत्त्वशास्त्री बरनार्ड एस. कोह्न ने जनपदीयता की अवधारणा की व्याख्या आधुनिक भारतीय इतिहास और समाज के संदर्भ में की है। कोह्न के अनुसार यह अवधारणा आधुनिक संदर्भ में सभ्यता की सोच से जुड़ी रही है। सभ्यता में जहाँ समग्रता है, वहीं जनपदीयता में विविधता। उनके अनुसार जनपदीयता आधुनिक समाज-विज्ञान में एक व्यापक प्रत्यय रही है, जो मुख्यत: भौगोलिक आधार पर पारिभाषित की जाती रही है। किंतु भौगोलिक या प्राकृतिक रूपों के अलावा वे जनपद की परिकल्पना में ऐतिहासिक, भाषाई और सामाजिक-सांस्कृतिक घटकों की प्रधानता पर भी ज़ोर देते हैं। इन तत्त्वों की भूमिका के आधार पर कोह्न जनपदीयता को ऐतिहासिक, भाषाई, सांस्कृतिक और संरचनात्मक जनपदों में बाँटते हैं। पुराना तमिलनाडु, बुंदेलखण्ड, विभिन्न

27_rakesh+++_Layout 1 12/27/2013 7:00 PM Page 816

भाषाओं और बोलियों के आधार पर पहचाने जाने वाले जनपद, धर्म, पहनावे और जीवन शैलियों की समानता और सामाजिक संरचना के समान तत्त्वों से बने इलाक़े हमारी जनपदीयता की संकल्पना का आधार होते हैं।

जनपद की अवधारणा कोह्ल के अनुसार कहीं जटिल होती है। हर जनपद अपने समान तत्त्वों के आधार पर एक तरह की अस्मिता से जुड़ा होता है, लेकिन इस समानता के भीतर कई तरह के भेद पल रहे होते हैं। एक जनपद के निवासियों में यह ज़रूरी नहीं है कि हर स्तर पर संवाद या आचार-विचार का साझा हो। इसका सबसे अच्छा उदाहरण ऐतिहासिक जनपद हैं, जिनका मुख्य आधार कोई ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति या प्रतीक होते हैं। लेकिन इनके भीतर भी एक तरह की बहुस्तरीयता होती है, जिसे लोग अलग-अलग ढंग से सँजो कर एक ऐतिहासिक जनपद की संकल्पना बनाये रखते हैं। कोह्ल ऐतिहासिक जनपद, जो कि अपेक्षाकृत स्थायी माने जाते हैं, की बदलती प्रकृति का उदाहरण इसलिए देते हैं कि जनपदीयता अपने आप में कोई स्थिर विचार नहीं है। सांस्कृतिक लक्षणों पर आधारित जनपद साधारण तौर पर सबसे ज़्यादा ध्यान खींचते हैं, जिनका योगदान उन समाजों को समझने में हुआ है जिनमें लेखन की विधि का विकास कम या नहीं हुआ था। अक्सर सांस्कृतिक जनपद प्रकृति से लेकर सामान्य रीति-रिवाज़ों के तत्त्वों का मेल होते हैं। लेकिन यह बेहद दिलचस्प है कि किस प्रकार उन्नीसवीं सदी के भारत में अलग-अलग समय में ब्रिटिश शासन और विद्वानों ने संस्कृति के तत्त्वों को परिभाषित कर किसी जनपद के चरित्र का विश्लेषण किया। इसमें नस्ल और भाषा का मेल सबसे अच्छा उदाहरण है जो आधुनिक संस्कृति की व्यापक धारणा से जुड़ गया था।

कोह्ल जनपद और जनपदवाद के बीच के अंतर को भी स्पष्ट करते हैं, जहाँ यदि पहला विश्लेषण की एक इकाई है तो दूसरा एक ख़ास तरह की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक इरादे से जुड़े भावों को दर्शाता है। जनपदवाद अलग-अलग समाजों में कुछ ख़ास प्रेरणाओं के साथ जन्म लेता है और धीरे-धीरे अपनी महत्ता खो बैठता है। निश्चय ही जनपदीयता किसी प्राकृतिक या भौगोलिक जनपद से जुड़ी स्थायी संकल्पना नहीं है। उसका निर्माण स्वयं जटिल सामाजिक और संस्कृतिक ताने-बाने से होता है जिसकी कोह्ल के अनुसार विशिष्ट परिस्थितियाँ और पूर्व-अपेक्षाएँ होती हैं। जनपदीय चेतना या अस्मिता के लिए प्रतीकों की पूँजी सबसे ज़रूरी है, जो यों तो सीधे-सीधे भाषा से जुड़ी होती है लेकिन इतिहास, संस्कृति और राजनीति के विभिन्न आयामों को भी समेटे रहती है। लेकिन प्रतीकों की संरचना में गहरे उतरने पर हम पाते हैं कि वे किसी ख़ास जनपद की सीमाओं से परे अलग-अलग कालखण्डों से जुड़ी हो सकती है। प्रतीकों की बनावट और यात्रा देशकाल की सीमाओं को धुँधला कर देती है, भले ही कुछ प्रतीक किसी ख़ास समय में किसी जनपद में महत्त्वपूर्ण हो उठे हों। कोह्ल तमिलनाडु और महाराष्ट्र के जनपदीय इतिहास से कुछ उदाहरण रख कर इस प्रक्रिया का विवेचन करते हैं। प्रतीकों की अपनी सत्ता किसी काम की नहीं होती जब तक कि उनकी सांस्कृतिक प्रक्रिया में भूमिका न तय की जाए। इस लेखे उनका चयन अपने समय की अन्य प्रक्रियाओं से भी जुड़ा रहता है। जनपद की आधुनिक अवधारणा में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद से जुड़े विचारों और छपाई और सूचना के तकनीकों का भी गहरा असर पड़ा है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में धार्मिक, साहित्यिक और राजनीतिक आंदोलनों में प्रतीकों के निर्माण और चयन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

कोह्ल के अनुसार जनपदीय अस्मिता से जुड़ा एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य उसका सामाजिक आधार है। ख़ासतौर से यदि हम आधुनिक भारत में अभिजन वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया पर गौर करें तो। वे जनपदीय अध्ययन के सांस्कृतिक कलेवर पर ज़ोर देते हैं, लेकिन इस चेतावनी के साथ कि यह अध्ययन ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

से अलहदा न रह जाए। ऐतिहासिक चेतना से लैस एक अत्यंत गम्भीर नृतत्त्वशास्त्री के रूप में कोह्न जनपदीयता की अवधारणा को औपनिवेशिक समय में आये सामाजिक सांस्कृतिक बदलावों के संदर्भ में समझे बग़ैर पारम्परिक प्रतीकों की निरंतरता के प्रति दुराग्रह से भी आगाह करते हैं। हालाँकि वे प्रतीकों और सांस्कृतिक प्रक्रिया में एक ख़ास भारतीय संरचना और दृष्टि से गुरेज़ नहीं करते और भरसक एक विशिष्ट भारतीय दृष्टि को भी मानते हैं। भारतीय राष्ट्र के निर्माण में भी जनपदीय संस्कृतियों का पश्चिम की भाँति पूरी तरह से लोप या एकीकरण नहीं होता। फिर भी कोह्न जनपद की स्थिर अवधारणा अस्वीकार करते हैं। उनके लिए जनपद का विचार हर ऐतिहासिक समय के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक तत्त्वों के बीच आकार लेता है। वह कोई वस्तुनिष्ठ विचार नहीं और पूरी तरह से आत्मगत भी नहीं होता। लेकिन निश्चय ही अध्ययन की एक कारगर इकाई है।

यहाँ प्रस्तुत तीनों लेख समाज और संस्कृति को लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया में समझने में जनपद की अवधारणा और जनपदीय जीवन की भूमिका पर विचार करते हैं। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, प्राक्-इतिहास और समकालीनता तथा औपनिवेशिक आधुनिकता की दृष्टियों से छनकर जनपद की अलग-अलग निर्मितियाँ हमारे सामने आती हैं। जनपदीय जीवन परम्परा और इतिहास से वैसे ही जुड़ा होता है जैसे सभ्यता के अन्य रूप और आचार। भरसक जनपदीयता एक तरह की सामूहिक निर्मिति है जिसमें भाषा और कार्मकाण्डों से लेकर हर रोज़ के जीवन के आचार-व्यवहार अलग-अलग समयों पर महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। राष्ट्र, राज्य, और समाज जैसी इकाई की तरह जनपद अपने आप में विशिष्ट संरचना है और वह इनसे जुड़कर भी अपनी अलग सत्ता रखता है।